उपार्जित क्षण

त्रिभुवन चतुर्वेदी

श्याम प्रकाशन, जयपुर

(राजस्थान साहित्य अकादमी के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित)



प्रकाशक : श्याम प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी; चौड़ा रास्ता, जयपुर–302003

संस्करण : प्रथम, 1985

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक : शीतल प्रिण्टर्स,
फिल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

UPARJIT KSHAN (Poetry)
by : Tribhuvan Chaturvedi Rs. 30.00

कृति और कृतिकार

"उपार्जित क्षण" के कृतिकार डा० त्रिभुवन चतुर्वेदी पेशे से प्राध्यापक किन्तु प्रकृति से कवि और दार्शनिक हैं।

पूरे तीन दशक तक वे अर्थशास्त्र जैसे शुष्क विषय के प्राध्यापक, महाविद्यालय के उपप्राचार्य और प्राचार्य रहे किन्तु उनके अन्तर से कविता का वत्सल स्रोत निरन्तर प्रवाहित होता रहा है।

सन् 1950 के आसपास जब गुलाबी नगर जयपुर की गोष्ठियों में गीतों का रंग जमता था, तो तरुणाई से भरपूर गोरे-चिट्टे प्रियदर्शी चतुर्वेदी के अपने अनूठे अन्दाजे बयां के कारण अपनी अलग ही पहचान थी।

तब से चतुर्वेदी जी का कवि-कर्म सृजन के नानारंगी गलियारों से गुजर कर एक ऐसे मोड़ पर पहुँचा है, जहां कवि मानसिक और आकस्मिक स्तरों पर चलने वाले सघन संवादों को कविता की बुनावट में गूंथने और वाणी देने में अपनी परिपक्वता और सामर्थ्य का परिचय देता है।

"उपार्जित क्षण" में संगृहीत उनकी रचनाओं में कहीं अनुरागी मन की कोमल अनुभूतियां व्यक्त हुई हैं, तो कहीं उनकी वैचारिकता समसामयिक विसंगतियों और विडम्बनाओं पर प्रहार करती हुई उन्हें आज के सार्थक मानवीय सरोकारों से जोड़ती है।

आज जब समूचा साहित्य-जगत् विविध मत-मतान्तरों और वाद-विवादों के घेरे में घिरा है, आत्म-प्रचार से सर्वथा दूर त्रिभुवन चतुर्वेदी किसी भी प्रकार की साहित्यिक गुटबन्दी से सर्वथा मुक्त होकर अपनी काव्य-रचना में संलग्न हैं और अपने आप में यह एक बड़ी उपलब्धि है।

वे जितने संवेदनशील कवि हैं, व्यक्ति के रूप में उतने ही सामाजिक चेतना से संपृक्त सहृदय मानव और भाव प्रवण मित्र हैं।

"ग्राईने ग्रकबरी" के लेखक ग्रबुल फज्ल ने समकालीन साहित्यकारों ग्रौर कलाकारों का वर्णन करते हुए ग्रपने भाई फैजी के प्रसंग में लिखा है : उसके बारे में कुछ भी बखान करने में मेरा भातृत्व-प्रेम बाधक है। फिर भी, मैं केवल इतना ही कह कर ग्रपनी लेखनी को विराम देता हूं कि जो शब्द से शब्द को जोड़ता है, गोया जिस्म से खून का एक कतरा कम करता है।"

डा० त्रिभुवन चतुर्वेदी के कृतित्व के बारे में भी ग्रधिक कुछ कहने में मुझे यही प्रतीति होती है। यह संकलन उनके कृतित्व की विलक्षणताग्रों को स्वतः उद्घाटित करता है। मुझे विश्वास है, उनकी यह कृति पाठकों को तुष्टि प्रदान करने के साथ निश्चय ही उनके संचित यश का विस्तार करने में समर्थ होगी।

—डा० मनोहर प्रभाकर

अनुक्रम

निवेदन

वह सुनहरी डाल जो सौरभ भरी
तुमने मुझे दी,
स्पर्श पाकर जो तुम्हारा हंस रही थी,
परस से मेरे न जाने क्यों रही मुरझा ?

वे तुम्हारे पुष्प थे सबके लिये,
किसी के भी नहीं थे,
हां ! मेरे भी नही थे,
इसलिए वे हंस रहे थे,
किन्तु मेरे पाणिग्रहण से,
मात्र स्पर्श से ही,
रहे मुरझा छुई मुई से ।

ये तुम्हारी देन तुम लो,
ये तुम्हारे पुष्प सबके हैं, सभी को दो,
मुझे तो !
एक कण ही सुरभि का मिल जाय,
मैं कृत अर्थ होकर,
सार्थक जीवन जीऊंगा आयुभर ।

अन्वेषक

कुछ भी तो नहीं हुआ
न हिम शिखर गिरे,
न जल प्लावन, न प्रलय, न भूकंप,
न फटी धरती,
कुछ भी तो नहीं हुआ ।

केवल मैं संपाती,
प्रश्न दग्ध उड़ा,
सूर्य को चुनौती देने में जला,
(जलना स्वाभाविक था,
कौन सह सकता है सूरज के ताप को)
कटी पतंग सा भूमि पर गिरा,
और कुछ तो नहीं हुआ,
केवल मुझे लगा सृष्टि ही बदल गई,
क्योंकि मुझे नयी दृष्टि ही मिल गई ।

मेरे पुरखे !!
सूर्य की प्रज्जवलित अग्नि के डर से,
घने वितानों में छिपे रहे,
आयु की गणित को अनुभव निकष कहते रहे,
सिकते रहे अपने ही प्रतिमानों की धूप में,
बोले सव्यंग्य,

अच्छा हुआ, जल गया
गीध का बेटा था,
चला था उत्तर लेने सूर्य से !!

मेरे साथी,
उलझे रहे अर्थों से, यकृतों से,
अस्थि से मज्जा से,
बातें करते रहे राग की, सौंदर्य की,
कण कण का रस पीने की प्रक्रिया में
पीते रहे अपने को, अपनों को,
बोले, गीध का धर्म,
मृतक मांस भक्षण,
अपना स्वधर्म तज,
अन्वेषण का किया पर धर्म वरण,
अच्छा हुआ जल गया,
परधर्मो भयावह:

और मैं दग्ध पंख, अक्षम, असहाय, नीचकुलोद्भव,
पड़ा संकत तट पर,
देखता हूं इन्हीं आंखों से रहस्य स्वर्ण तट का,
आये तो कोई प्रभंजनजय,
उसे मैं रहस्य दूं,
मिला था जो जलकर मुझे,

सूर्य !
न किसी को जलाता है न दागता है,
हम सब,
जलते हैं अपनी ही दाह से,
जो कुछ है उससे अधिक दिखने की प्रक्रिया में,
हम ही,
जो दो बन गये हैं अन्दर और बाहर,
पृथक-पृथक,
सेतुहीन,
जलते हैं अपनी ही आग से ।

उपार्जित क्षण

वह उपार्जित क्षण
आज अचानक उड़ना सीखते हुए,
गौरेया के बच्चे सा,
सहसा मेरे कन्धे पर
पर फड़फड़ा गया;
भर गया मेरा अन्तर,
अतीन्द्रिय अन अनुभूत
आह्लाद से।

वह सुख !
मेरी तस्वीर के पीछे बने,
घोंसले में पला,
कभी जो सूक्ष्म था,
विस्मृति के कर्दम में,
वही रूपाभ सरसिज सा खिला,
मल व पुरीश के परिवेश में प्रसूत,
मेरी इयत्ता का अतिक्रमण कर,
सहसा मुझे छू गया,
कभी अनदेखा या कभी अनसमझा था,
वही !
हां वही !!
होने से पहले भी
मेरा था।

रूप : अर्थ

खिलते हुए गुलाब के साथ खिलखिलाओ मन मेरे,
उसके रूप को वरो,
क्या करोगे रूप के सत्य का अन्वेषण कर ?

रूप की रहस्यमयी अर्थवत्ता की परिधि में,
किरण सी अनुभूति ही केवल संप्रेषणीय,
उसी को अपनी मनोभूमि पर उतारो
सजाओ, संवारो,
क्या करोगे गुलाब के पत्रों का विच्छेदन कर ?

रूप किंजल्क ही रागमयी परिणति है,
वरण तो करो,
मानस को सुन्दर के क्षेम मय स्वन से तो भरो,
रूपकिरण रज्जु ले डूबो अर्थ अंबुधि में,
गहरे अवगाहो,
क्या करोगे तट सिकता पर केवल
पग फटफटाकर ?

सोचो तो, रूप के अर्थ के प्यासे मन !

निर्द्वन्द्व

शब्द,
नाना वर्णों के, नाना ध्वनियों के,
विहंगों से पंख खोल,
नभ में मंडराते है,
मंडराते ही रहते हैं,
कभी नींद भी न आती इन्हें !

जब कभी मैं,
मधुरिम प्रकाश के स्तवक सजाता हूं
केवल तुम्हारे लिये,
तभी मधुर, सलौने, विकलांग, बौने,
लिलिपुटी शब्द सैन्य का,
हो उठता आक्रमण,
औ मेरा स्वतक खंड खंड हो,
बिखर बिखर जाता हैं

तभी अन्तर में उठती है एक ध्वनि,
प्रभामयी ध्वनि भागीरथी;
मुझे मस्त कर देती है,
और मैं स्नात शिशु सा,
निर्द्वन्द्व सो जाता हूं ।

एकान्त

सहसा ध्वनियाँ थम जाती हैं,
एक विशाल नीलिमा का समुद्र,
मुझमें उमड़ पड़ता है,
उसके गर्जन से भी कोमल स्वरों से,
मुखरित हो उठता है मेरा एकाग्र मन,
और वे विशाल मंदिर, मसजिद, गिरजे,
हम तुम सब,
उस नीलिमा के सागर में डूब जाते हैं,
और सहसा ही वह विशेष मकर,
जो मुझे बार बार ग्रस लेता था,
उस नीलिमा के बन्धन से कट कर
न जाने कहां खो जाता है;
और मैं,
ध्वनियों के सागर में
एकान्त जीता हूं।

एकान्त !
वह मुझे संत्रस्त नहीं करता;
आश्वस्त करता है,
आनन्द में डुबोता है;
और मुझे समझ पड़ता है,
कि भीड़ में अकेला,
और अकेले में भी भीड़ में,
कैसे रहता है मन !

भूल

दर्पण दूर से देखा,
द्वार सा लगा,
प्रविष्ट होने लगा,
टकराया,
सिर फूटा,
दर्पण हंसा !

भूल मेरी थी !!
मेरा स्फीत ग्रह
दुनिया के इस लाक्षा गृह में
दर्पण को द्वार समझ बैठा,
अतः फंसा ।

चम्बल की एक शाम

आजकल जब हम बहुत करते हैं प्यार !
प्यार का छल ! !
तट पर लहराती स्वर्णिम सांझ लहरों पर,
सहसा मैं झुक गया, रूपलुब्ध
एक अजीब
बेस्वाद बोध से भर गया मेरा मुख ।

तीव्र राग गंध अंध,
करतल में भर कर,
करने लगा निरीक्षण जो,
लहरों के केश मणि समूहों को,
भर गये करतल में,
अनेक मत्स्य कन्याओं के अस्थि शेष,
मछियारों के जाल करने लगे उपहास,
अरे ओ सौन्दर्य काम !
खा जाता सुन्दर की आत्मा को असुन्दर जब
रह जाती है आकृति मात्र,
दूर से लावण्य मयी,
किन्तु समीप से घोर दुर्गन्धिमयी ।

रूप का निस्संग पान,
परिधियों की इति है लुब्ध !

बोलो क्या प्रस्तुत हो,
मिटाने को अस्मिता को ?

किन्तु मैं संतुष्ट रहा,
बिम्बित रूप की,
मृण्मयी छलना पर,
यूं ही बस,
जीवन भर।

प्रसवपीड़ा

मुझे रोको मत,
न वरजो, मत उड़ाओ
मैं कपोती प्रसव पीड़ा से व्यथित हूँ,
जल रही है आग मेरे गर्भ में,
उसको निकलने दो,
उसे लेने दो कोमल सुचिक्कनरूप,
विकल है मातृत्व मेरा,
उसे पाने दो अभिव्यक्ति,
स-अर्थ होने दो,
प्रसव करने दो,
मुझे रोको, न वरजो ।

क्या हुआ ?
यदि मैं तुम्हारे ताख में तीलियां भर दूंगी घिनौनी,
क्या हुआ ?
यदि दुर्गन्धि मल से,
मैं तुम्हारे कक्ष के उद्धत अहं को,
करूंगी सीमित, अपमानित,
और उसके सुन्दर सुचित्र तन पर
बीट और पुरीष कण दूंगी गिरा मैं,
किन्तु रचनाकार मैं,
रत्नगर्भा,
कक्ष की रिक्तता, थोथे अहं को,
सार्थक स्वर दूंगी, नवल स्वर,

सद्य प्रसवित कपोत शिशु के,
सृष्टि के अभिप्राय के अनादि सूचक।

मत उड़ाओ तुम मुझे
मत डरो, दुर्गन्ध, अशुचि से,
मत डंसे तुम रहो अपने दंभ अहि से,
भीड़ का, सामान्यता का भय सताता है तुम्हें जो,
कक्ष के जड़ उपकरण ही बन रहे इति उपलब्धियों की,
उनसे उबार कर देखो, जीवन और भी है,
बहुत आकर्षक!

मुझे लाने दो तनिक तिनके
बनाने दो अभीप्सित सेज,
दहकती है आग
जो मुझको तपाए दे रही है,
उसे लेने दो सुचिक्कनरूप
करो उसको अस्मिता स्वीकार,
अपने कक्ष के उद्धत अहं को,
इन प्रसवाकांक्षी स्वरों से,
करो मुखरित और गुंजित।

प्रश्नाकुल

वे चले गये,
जिनने जीवन को वरा,
शायद वे आएं
जिनको जीवन वरे,
हम हाय स्वयं ही वद्ध,
वरण स्वातन्त्र्य सहज ही खोज रहे हैं।

छोड़ दिया घर, ऊपर नभ वर,
चारों ओर शून्य का सागर,
किरण प्यास, निज बल पर आश्रय,
सारे नक्षत्रों पर संशय
प्रश्न विद्ध हम, ज्वाल दग्ध हम,
किस नव नभ के क्रीडांगन में
अपने श्लथ् पर तोल रहे हैं

बाहर रस की धार नहीं है,
खं कोई आधार नहीं है,
बल न वायु है, बल न किरण है,
मिट्टी में कुछ सार नहीं है,
दूर्वा, पुष्प, तट, लहर, वल्लरी,
सुन्दर हैं, सौन्दर्य नहीं है,
हम होते है, हम मिटते है, इस होने का अंत नहीं है।

सुरभिकाम हम, प्रश्नधाम हम,
किस अभिनव रस की कांक्षा में,
जीवन घट के अपिहित मुख को,
लघु हाथों से खोल रहे हैं।

ऐसा कभी न हुआ

ऐसा कभी न हुआ,
जब ले सकते हम सांस चैन की,
फैला पैर खाट पर कह सकते कि,
हम तो है निश्चिन्त न हमको है कोई गम ।

ऐसा कभी न हुआ,
लुभावनी मरीचिका ने
हमें नही भटकाया दर दर,
तृष्णा तापित मरुस्थल में नहीं दहे हम ।

ऐसा कभी न हुआ,
स्पर्धा ने हमको दिया न वृश्चिक दंशन,
हंसते देख किसी को हम हस पाये जी भर ।

ऐसा कभी न हुआ,
होकर तटस्थ हम देख सके हों,
जीवन में लहरों की उछलकूद औ गर्जन तर्जन,
गति का अर्थ समझ पाये हों स्थिर होकर ।

सदाफूली

कितनी दुखी है ये,
सुन्दर, सुकोमला पखुरियां गुलाब की,
सर्वप्रिया, रूपगर्विता,
किन्तु अस्तित्व शंका डसी,
पतनोन्मुखी,
दु:खी दु:खी।

कितने बेचैन है ये,
गंधहीन तितलियों से फूल ये विगन बेलिया के
द्वारों, उद्यानों की शोभा बन खिले, सजे,
श्रेष्ठता आरोपे, गरवाये, अहं डसे,
किन्तु सत्वहीनता बोध से,
झुके झुके।

कितने कठिन है ये,
तीक्ष्ण शूल शर सजे
उद्धत क्रूर सैनिक से झाड़ नाग फनियों के,
दर्पित विषधरों से फन लिये खड़े विष शर सजे,
किन्तु सार्थकता चिन्ता से,
ग्रसे ग्रसे।

कितनी सुखी है यह सदाफूली,
नहीं सही उतनी श्रीमयी, सुषमामयी,
पर अपनी निष्ठा के रंग में रंगी हुई,
प्रति क्षण मोतियों सी हंसियां हंसती हुई
अपने अमृत को पी, जीती, खिलती हुई,
सुखी सुखी ।

चिंता

कौन हो तुम !
लगी रहती रात दिन जो साथ मेरे,
मलिन वस्त्रा, म्लानमुख चक्षुओं में भरे कीचड़,
बिखरे बाल, उड़ाती थूक,
बिवाई से फटे ले पांव,
अपने दग्ध कर स्पर्श से,
दहाती हो गात,
लगी रहती साथ मेरे अन्धेरे में, उजाले में ।

जब कभी मैं धूप के गुच्छे उठा कर सूंघता हूं
सुरभि की बाहें पकड़कर गंधवन में घूमता हूं,
तुहिन स्नाता दूर्वा के आद्र अधरों पर बिछलता,
स्वर्ण मणि सा,
तभी सहसा तुम उड़ाती थूक,
चलाती नेत्रों से,
मुझे ले जाती गुहा में,
जहां तम है, सील है, बदबू भयानक,
एक विष का दंश, चुम्बन लगा देती मस्तिष्क पर मेरे,

और मैं चिंते !
तुम्हारे ताप से दहता हुआ,
रोज मरता हुआ जीता हूं ।

रोज़ रोज़

रोज रोज़,
प्रात होते ही,
एक नन्ही सी, सुन्दर सी गौरेया,
मेरे मन कोटर में लगती चहकने,
दुर्लभ्य फलों की,
सहज उपलब्धि को,
आशा भरे नयनों से बार बार तकने,
और एक सुनहली किरण,
उसके स्वस्थ पंखों को,
लगती गरमाने, सहलाने

सांझ होते ही,
नन्ही सी, खीजी सी गौरैया
बैठ किसी कोटर पर,
लगती चिचियाने,
और पराजय भरे स्वरो को दुहराने,
दिन भर की धूलि से, गर्दिश से कुंठित हो,
कोटर में पड़ जाती,
थक कर सो जाने ।

ऐसा होता रोज़ रोज़

एक दिन एक मर्जारी आयेगी
चुपचाप, अकस्मात,
चिड़िया को पंजों में
दबाकर ले जायेगी
और बेचारी चिड़िया
चिचिया भी न पायेगी ।

वरदान

चाहे तुम मेरे सपनों को जीवन का वरदान न देना,
चाहे तुम मेरी कांक्षा की मांग नहीं कुमकुम से भरना,
चाहे तुम पीने मत देना,
मेरी प्रबल कामनाओं को सहज तृप्ति का मादक मधुरस,

पर इतना वर दो मेरे प्रभु !

जब जीवन तरु की छाया लम्बी हो,
पांव पसारे पूरब दिशि में,
तब न कहीं मैं,
हो हताश, कुंठित, खीजा सा,
कहने लगूं,
वे आदर्श कि जिन पर मैंने,
सपनों को बलिदान कर दिया,
और मूल्य वे,
जिनकी खातिर
मैंने अपनी कांक्षा को वैधव्य दे दिया
और सत्य वे,
जिनके निष्ठुर चरणों पर यों पटक पटक सर,
ठंडी हुई जवानी मेरी,

झूठे थे,
मेरी ही कायरता के वे
संकर सुत थे,
और उनके खातिर लड़,
जीवन की अंगूरी हाला के,
मादक मधुरस को खोकर
मैंने भारी ग़लती की थी,
मैं था अव्यवहारिक।

मेहमान

बहुत दिनों से,
जब से मैंने,
नभ में नक्षत्रों को देखा टिम टिम करते,
जब से मैंने गौरैया से, कोयल से, श्यामा गैया से,
प्रीत बढ़ाई,
नभ में बनते मिटते हाथी घोड़े देखे,
फूलों और तितलियों का प्रिय परिचय पाया,
तब ही से दादी की छोटी कहानियों में सुना,
और कुछ देखा समझा,
कि छोटे मोटे, दीर्घ लघु और रंक नृपति के,
सब ही के घर आता है मेहमान,
विविध रूप धर, विविध वेष में,
विविध रूप से करते है सब उसका स्वागत,
और तब ही से,
जो कुछ देखा, समझा और सुना है,
वह अनादि है, वह अनन्त है, अवश्यम्भावी,
वह विधि है, वह निर्णायक है, वह अंतिम परिणति,
नहीं मानवी बुद्धि उसे है जान सकी अब तक,
और न उसको जय कर पाई
गुप्त, सिकन्दर, अकबर की तीखी तलवारें
और आधुनिक वैज्ञानिकों के मस्तिष्क,

जब वह आता,
हाथ पांव धोखा दे जाते,
भय से जिव्हा जकड़ काष्ठवत हो जाती है,
और व्यक्ति तब नयन फाड़कर
अपने सुत, पत्नी, पुत्रों की ओर देखता,
ताकि उसे जाने से रोकें
वे इस अतिथि के बाहुपाश में,
पर उनको असमर्थ जानकर
चारों ओर पुतलियां फिराकर
खुद ही स्वागत करता है इस नव आगत का
ले करके दो चार हिचकियां,
मुख से सारा श्लेष्म उगलकर,
एक ओर कोसिर लुढ़काकर,
कंचन की काया वाला मिट्टी बन जाता
और तब रोदन, क्रंदन बीच,
साथ ले जाता है मेहमान ।

किसी किसी के लिए दूत बनकर आता है
वह प्रियतम का
विदा कराने विरह ज्वाल झुलसी प्रेयसि को
और तब करके नवल श्रृंगार दुलहनियां
चार कहारों की डोली पर चढ़कर जाती,
माटी की कोमल शैय्या पर,
माटी का तकिया माटी की चादर लेकर,
चिर वियोग से विरह व्याकुला सोजाती है मिलनातुर हो,

किसी किसी के लिये,
वह संतरी है, सैनिक है, पहरेवाला है,
जो ले जाता,
इस कारा से कैदी की दंडावधि बितवाकर,

दूसरे कारागृह में,
और देखकर कर्म दण्ड के सही आंकड़े
दे देता है उच्च और निम्न श्रेणियां कारागृह में,
कभी कभी कुछ वह देते है,
वह तो केवल पोशाकी है,
जो कि पुराने जीर्ण वस्त्र से नेह छुड़ाकर
वस्त्र दूसरे पहिना देता,

जो कुछ भी हो,
कोई नहीं कह पाया है साफ साफ इसके रहस्य को
पर इतना है अवश्य,
कि मानव हो, पशु हो, कीड़ा हो या पक्षी हो
कोई भी हो, जो जनमा है, इस पृथ्वी पर ।
रूप काल के बधन से जो बंधा हुआ है ।
उन सबके घर,
आया है, आता है, या आजायेगा
बिना दिये तारीख एक दिन यह मेहमान,
उनको हस्ती को पीने को,
जिस तरह वारि की लहर निगल जाती जाती बुद बुद को
इसलिए जब रोज रात को सारी दुनिया
मोहित होकर सो जाती है,
तब मैं सुनता हूं उसकी धीमी धीमी पद चापें,
मुझको लगता दूर कहीं पर अंतरिक्ष में,
मेरा अतिथि बिना प्रतीक्षा किये आ रहा,
चला आ रहा,
पतझड़ के सूखे पत्तों की खड़ खड़ से भी
धीमी उसकी पद चापें है;
और एक दिन दस्तक देगा,
दरवाजे पर,
यही कहेगा, मैं आया हूं क्या न चलोगे साथ ?

श्रौर मैं सोच रहा हूं,
उसको तो श्राना है, मुझको जाना होगा
क्योंकि जरूरी ही हम सबको जाना है
रूप काल से बंधे जगत में जो श्राए हैं
नहीं इसलिए चिंता है मुझको उसकी कुछ,

पर कहीं कदाचित,
मित्र मिलन के इस अवसर पर
कहीं न मुझको मेरा शौर्य दगा दे जाये ?
कहीं न भय से विह्वल जिह्वा मेरी जकड़े ?
कहीं न भय से कातर श्रांखें,
टपका दे श्रांसू के दो निन्दित कण ?
वह तो होगी मेरी प्रबल श्रहं की महा पराजय

इसलिए, श्रो मेरे उर के प्यार !
श्रतिथि दर पर दस्तक दे जब
नयन में तुम छा जाना;
श्ररी श्रो मेरी बाहु !
प्यार से तुम उठ जाना
श्रौर करना श्रालिंगन आगत का हंस;
ताकि जगत यह कह न सके कि,
मैंने ठुकराया मेहमान,
मैं था कायर।

ओ ! मेरे वसंत

इतना वैभव में मत पालो तुम मुझको,
मैं जीवन की तपती आग न सह पाऊं।
इतना मत दो मुझे,
पेंजी सा मृदु तन,
मैं जीवन की प्रथम दाघ में जल जाऊं।

मैं जीवन के ऋषभ और गंधारों में,
जीवन गायन कहीं न समापन कर बैठूं।
समता दो,
आरोहों में जितना गमकूं,
अवरोहों में उतनी मींडें ले पाऊं;

जब जब दखिना मुझको आकर सुरभाए,
अमराई को मैं गीतों से भर भर दूं,
पर ऐसा स्वर मुझे न दो,
ओ मेरे वसंत।
तुम जाओ तो मैं वस गूंगी बन जाऊं।

सुरभि के चरण

आज मुझको छू गये लो !
सुरभि के दो चरण ।

एक कुसुमित बकुल की सी डाल,
सहसा छू गई मुझको,
लगा दंशिनि,
अंजुरियों में फूल भर नहला गई मुझको,
आज मुझको पी गये दो,
गन्ध प्लावित क्षण ।

लगा मेरे शीश को,
प्रश्वास ने चूमा
कुन्तलों में कर किसी का,
नेहमय घूमा,
पृष्ठ से उत्तप्त वक्ष स्पर्श सी सिहरन ।

धूम घन से शृंग पर,
ज्यों हो धुंआया मन,
किरण फूटे, दिपे घाटी में
नवल जीवन,
लहलहाते खेत, हंसते गाँव, गाते जन,
धुंध पीड़ित मन,
किरण के नित्य वे दो क्षण ।

आज मुझको छू गये लो !
सुरभि के दो चरण ।

आज मैं अकुलाया

कुहक भरे माधवी प्रात ने,
अनायास ही विरह क्षण ने,
मुझे छुआ;
मैं अकुलाया।

यों तो अति क्लांत तन, व्यस्त मन
अपनी नींद सोया, अपनी नींद जागा
पर आज प्रात न जाने क्या हुआ,
धूल भरी कुर्सियां,
मैला मुंह लिये किताबें
चिढ़ाने लगीं मुझको;
श्लेश्मा रूद्ध कंठ स्टोव न सुलगा, न सुलग पाया
नम आंखें दियासलाई घिस घिस कर रीत गईं
एक भी प्याला न मिला,
जिसका मुंह साफ हो,
तुम क्या गईं, चाय भी न पी पाया

सोचा भटक कर तोड़ दूं परिवेश का दुःख;
वेदान्ती कमीजों ने बहुत ही चिढ़ाया,
राग की सवेद्य सत्ता सहसा मुझे अनुभव हुई
व्यथित, मदित नयनों में आंसू छलक आया।

रात के बीतने पर

रात के बीतने पर
ढलती तारिकाओं के आभामय भोर में,
चपल पग रखती हुई,
ओठों पर हाथ रख मंद मंद हंसती हुई,
प्रात वायु आती है,
कभी नव कालिका का घूंघट उड़ाती है,
कभी उनीदों को टहोके दे जगाती है,
छेड़ छेड़ जाती है
रात के बीतने पर ।

रात के बीतने पर
मेरे आंगन में काग काव कांव करता है,
जूठी थालियों में त्यक्त,
जूठन उठा करके मगन मगन गाता है,
जैसे कोई लघु नेता,
अपने बड़े नेता के वाक्यों को दुहराता है,
मुखौटी गरिमा पहिन,
व्यर्थ गर्वाता है,
रात के बीतने पर ।

रात के बीतने पर,
दूर कही चक्को के घुर घुर को,

सुरीली ध्वनि,
कोई अस्पष्ट गीत,
चूड़ियों की खनन खनन,
साथ लिये गूंजती है,
जैसे अन्तर में कोई अस्पष्ट प्रसन्नता
निर्झर सी झूमती है;
और गली में कहीं सार्वजनिक नल कल पर,
प्रौढ़ा युवतियों के,
हास्यमय, घुले से स्वर–
गगरियों के मंजने की,
हलकी सी किर किर ध्वनि,
पंखियों के मोद भरे गीतों का आवर्तन,
ऐसा लगता है,
जैसे जीवन अपराजित है तम के प्रहारो पर;
रात के बीतने पर।

गंध शिशु

आज औचक,
किसी की गंध भीनी अंगुलियों ने,
अवरुंधे नासापुटों में,
गंधमय नस्वार सहसा भर दिया।

अध्ययन रत स्कन्ध पर,
सहसा किलक कर,
हाथ रख नासापुटों पर,
चढ गया,
गंध शिशु
दिखाता दंतुलियां।

घूम कर देखा,
पास ताली बजा,
आसमानी हँसी पुष्पा,
हंस रही कचनार,
फुरहरी से उडाती गंध,
ऊपर मयूर कंठी व्योम,
गंध के कुमकुम उड़ाता
लो! आ गया वसंत
नई ऋतु का सुखद स्पर्श,
कितना रोम हर्षक!

वसंत

मदन केतु फहराता आगया वसंत
ओ ताम्रपर्णी, वासंती, पल्लवी
देखो, सुनो।
क्या इसी आगत की आशा में,
तुमने उतारे वसन,
हुई निर्वसन,
लाज भी न आई तुम्हें,
लो!
वसनों की सौगात लिए आगया ऋतुराज,
ओ ताम्रपर्णी, देखो, सुनो।

हिम भरी वह बात तुमने क्यों कही थी?
हाँ! क्यों कही थी?
कर दिया पलाश मुख काला,
निराशा क्यों हुई थी?

लो! सुलग उठे हैं फिर से पलाशी वन,
किरण पर भी चढ़ गया है अमल तासो रंग,
हंस रहा कचनार,
शिरीष मस्ता रहा है,
शंख पुष्पी दूर्वा,
चषक भर भर पी रही है तुहिन अमृत,
हो गया आकाश सब स्वर्णाभ,
तुम भी बनो उत्सव,
ओ ताम्रपर्णी,
देखो, सुनो।

गणगौर

नील पीत सतरंग पंखिनी, खगियों का त्यौहार,
ओढ़ लूगड़ी
नाच रहा बहुरंग वेष धर नचकनिया उल्लास.
पंचम स्वर में मांडें गातीं,
गांव गांव में झूम रही हैं,
गौरी—गण के साथ,
भूरे भूरे खेतों में उड़ रहीं,
बहुरंग पताकाएं,
वन में लाल लूगड़ा किसने,
रंग भर दिया निचोड़,
खिले पलाश ।

नयन गुलाबी,
कांचली गुलाबी,
गोरी का अंग अंग गुलाबी,
केसरिया रंग साफ़ा पहिने,
ताक रहा श्याम गण
गोरी गोरी गौर,
मदन केतु फहराता घर घर
झूम रहा ऋतुराज ।

आषाढ़ का गीत

पिहको मत कोयलिया, अमुआ की छांव में,
सदेशा भिजवाया पुरवा के गांव में।
अभी ही निमोली ने चुपके से बतलाया,
भंवरारी जामुन भी सहसा गदराई है,
सपड़ी जो बैठी थी म्लान मना तापदग्ध
जाने क्यों अकस्मात इठला पुष्पाई है।
आवारा पवन भी रवैया बदल करके,
सहमा सा चलता है दबे दबे पांव में।

सुना आज प्राची के डुंगुराए आंगन में,
रक्त वदन बादल की बेड़निया नाचेगी,
दादुर के छोकरे तालियां बजाएंगे,
मधुर वायु वीणा पर मल्हारें गायेगी,
खगिनी ने फुनगी को बतलाया गा गाकर,
थिरकेंगे श्यामल घन बिजुरी के गांव में।

लहरों पर, पत्तों पर, कुम्हलाए विटपों पर,
स्नेह स्निग्ध रिमझिम का जादू छा जायेगा,
पीपल के पत्तों पर मोती सा ढुलकेगा,
खिल खिलकर बकुल कुसुम फिर से महमहायेगा
चहकेगा नव यौवन कादम्बिनि पुलकों में,
महकेगा एक गीत कदम्बी छांव में।

सावन घन

घिर आए सावन घन
आए न सांवरे,
गोरी के गीतों का सूना है गांव रे।
सहमी सी मके से पुरवैया आ गई,
सजनी सहेली सी तीतरिया छा गई,
भूल गये वाबुलवा विफर गये वीर रे,
मैया क्या जाने क्या विटिया की पीर रे,
मतवारे नाचे घन विजुरी के गांव रे,
कौन संग नाचूं ओ मेरे घनश्याम रे;
घिर आए सावन घन।

तोरई तुम्हारी तो आंगन में फूल रही,
गोद भरे बेलरिया महुआ की झूल रही,
अमुआ ने टपके की दी है ज्योनार रे,
भंवरारी जामुन की झूमी वहार रे,
लौट लौट आए सब परदेशी गांव रे,
कगुआ उड़ाते मैं हार गई साव रे,
घिर आए सावन घन।

गली गली गूंज रही कजरी मल्हार है,
चूनर का, मेंहदी का घर घर त्योहार है,
चूनर जो लाए तुम पहनी न जाय रे,
ढोलक विसूरे कि आल्हा कौन गाय रे,
पाती की, आने की, पूछे सब गांव रे,
आकर बतादे मैं क्या दूं जवाब रे?
घिर आए सावन घन।

पावस सन्ध्या

किरण नाची कादम्बिनि से गलबहियां कर,
सद्य नहाये पात थिरके,
स्वर्ण मुक्ताहल लुटाती,
मृदु कदम्बी गंध वासित,
पीत अंबर पहिन हंसती थिरक उतरी सांझ,
हर्म्य शिखरों, गवाक्षों, द्रुम, मंदिरों पर,
स्वर्ण रज सा अलक्तक झरता।

सामने पूरब गुहा में,
श्रांति रति रसिकेन्द्र मेघ कुमार,
रात दिन रुम झुम बरसकर,
धरणि को कर नेह प्लावित,
ओढ़कर ज़रतार चादर
तुष्ट गहरा सोगया है,
ओढ़ पीताम्बर कृष्ण ज्यों सो रहे हों,
काल यवन की कन्दरा में,

चल पड़ा जीवन मुखर हो,
जो अभी ठिठका खड़ा था;
वर्षा से सुरक्षित पर गति रुक सकी कब
उठ रहा रक्ताभ नीरा प्रतीची से,
एक नीला कमल,
पावस सन्ध्या घिर रही है,
सद्य स्नाता रूप माती।

शिशिर की वर्षा

शिशिर की वर्षा,
ठंडा कंपकंपाता शीत,
गहरा तम,
टप टप उपल की बौछार,
तन को बेधती सी बयार,
हिमानी अजहदा ज्यों ले रहा फूत्कार
मेघाच्छादित भयावह शीत भरी रात ।

गल रहा हिम,
शीत शापित जन,
रजाई में दुबक सोये पड़े हैं,
शीत में जकड़े पड़े हैं,
द्वार वातायन सभी कर बंद,
स्वयं केन्द्रित हो,
सो गई है कमरे की अस्मिता ।

कि लो खुल गये बादल,
निकल आया शुक्ल पखी चांद,
मेघमाला से छुड़ाकर बांह,
पड़ गई स्नाता धरा पर,
एक झीनी, रूपमय, हिम श्वेत चादर,
एक शाश्वत अर्थ रूपाकार ।

किन्तु वातायन न देखेगी !
न देखेगी !!
तनिक भी खोल करके आंख,
गहरी ओस बरसेगी,
और धरती,
पुनः गहरे धुंध में खो जायेगी।
रहेगा,
बस दग्ध करता प्रश्न !
सदा से अनुत्तरित जो,
कहां है रूप !
कहां है सत्य !!

मन मेरा

शेष अभी चलना है, जाने क्यों भूल गया,
मन मेरा और ही गुत्थी सुलझाता रहा।
चुन चुन कर मन कपोत तिनके कुछ लाता रहा,
नीड़ के आयोजन में तन को घुलाता रहा,
पर जाने कौन अदृश्य भय बार बार,
उसको उड़ता रहा, तिनके बिखराता रहा।

वान्छित सन्दर्भों का निर्धारित क्रम छोड़कर,
बालक ज्यों मेले में भटके सुधि भूलकर
कभी खिलौनों पर, कभी आइस क्रीम पर,
कभी पतंगों पर पैसे खनखनाता रहा।

उमड़ते विचारो की विकट रेल पेल में,
पाने स्थान हेतु भटके ज्यों रेल में,
कभी इस डिब्बे से, कभी उस डिब्बे तक,
धक्के व्यर्थ खाता रहा, चिल्लाता, गिड़गिड़ाता रहा।
मन मेरा और ही गुत्थी सुलझाता रहा

सानेट (1)

कैसे मन लिखे अब यात्रा इतिहास,
झर गये सुधियों के पीत अमलतास।

इतना पथ नापा है थक गये पांव,
जीवन भर कंधे पर ढोया शव भार,
कितने श्मशान तपे कितने मरु पार,
फिर भी नहीं मिला, प्रियतम का गांव,

अब तो बस झूम रहे अर्क औ जवास,
धू धू कर जलता है धूसर बैसाख,
मारुत उड़ाता है केवल गर्म राख,
बंजारी भटकन ने तोड़ा विश्वास;

जीवन भर सताता रहा यही एक दर्द
क्या है आकृतियों का वास्तविक अर्थ,
आस्था को पी गया विषधर अवसाद,
कैसे मन लिखे अब यात्रा इतिहास।

सानेट (2)

ऐसे दुखियारों को क्या दोगे मीत,
रीत गया जिनका जीवन संगीत;
पी गई जिनके जीवन को छांव,
उजड़ गया जिनके अंतर का गांव;

होठों पर जिनके आ बैठा मौन,
खडहर सा डगर मगर जर्जर तन भौन;
डस गया जिनको विषधर अवसाद;
द्वारे पर डर डर कर आता आह्लाद;

निर्मम नियति ने जड़ कर दी आस,
जिनको विधाता ही हो गया वाम,
किस्मत के बंद हुए जिनके सब द्वार;
उनको क्या कह कर के दोगे विश्वास ?
कैसे दोगे उन्हें आशा अभिराम ?
कैसे दे पाओगे सपने सकुमार ?

गज़ल

इन तन्मय क्षणों में पुकारू' मैं किसको,
कहाँ खो गया हूँ न मुझको पता है,
करू' नेह अर्पण, कैसे करू' मैं,
कि स्वर प्रार्थना को पिये डालता है;
मधुर बंसरी रव से पग न बांधो,
डगर नेह की है, विकट रास्ता है;
छदन से सतत चांदनी सी रही झर,
तेरा नेह निर्झर बहे डालता है;
तेरे रूप अंबुधि में खो गया हूं,
कि लहरें है कितनी किसको पता है,
सुरभि ने न किसको भरमाया त्रिभुवन,
कि हम सब निवेदित सुरभि शास्ता है ।

जिन्दगी तुझसे कहूँ क्या

जिन्दगी तुझसे कहूं क्या इस प्रहर में ?
गीत का आरोह सहसा खो गया है,
मधुर वादी स्वर विवादी हो गया है,
लय गई है खो,
दपोलों के कहर में ।

बज रही सब ओर झंडा रागिनी ही,
और नारों की रही बट चाशनी ही,
भीड कुचले दे रही संकुल डगर में ।

जिसे देखो वही सड़कें है बनाता,
पर पुलों की बात को हँस हँस उड़ाता,
रास्ते सब गुंथ गये हैं इस नगर में ।

सभी अपने हैं यहां कोई न अपना,
आंख से लग खो गया है एक सपना,
शोर ही बस शोर है अंधे शहर में ।

जिन्दगी तुमसे कहूं क्या इस प्रहर में ?

भीड़ में भटके हुए हम लोग

भीड़ में भटके हुए हम लोग
किससे क्या कहें,

चल रहे जिस ओर सब,
हम चल रहे,
यूं ही अनुगति में स्वयं ही,
पल रहे,
दे रहे स्वर उसे,
भीड़ जिसका कर रही जय घोष. किससे क्या कहें।

भीड़ ने हमको दिया व्यक्तित्व,
वह ओढ़े हुए,
हम कटे निज से,
मगर समवाय से जोड़े हुए;
आह! अनुकृति में रहे पा तोप;
किससे क्या कहें।

बस यही है दर्द
हम हम ही नहीं,
हम तुम्हारे भी नहीं, अपने नही
भीड़ में हैं चल रहे उसके नही
क्रमिकता में खो चुके निज बोध,
किससे क्या कहें।

पाथेय चुक गया

एक अनिश्चय से दूसरे अनिश्चय तक,
जीवन यों ही कट गया।

लहरें न बंध सकीं, मोती भी नहीं मिले,
मुक्ता अन्वेषण में जीवन भर सीप गिने,
थपकियां कहां मिलीं, केवल थपेड़े मिले,
विद्रुम के सौदों मे शंख बहुतेरे मिले।
एक थपेड़े से दूसरे थपेड़े तक,
तट यों ही कट गया।

अगणित राहें मिलीं
एक भी न निजी हुई,
गति को चौराहों की निर्ममता पी गई,
एक चौराहे से दूसरे चौराहे तक
यो ही भटका किये;
कभी तने गर्व से कभी पालागन किये;
श्रेयस पथ नहीं मिला,
पाथेय चुक गया।

मनुहार

थक गये होगे तनिक तुम बैठ भी जाओ।

जिंदगी ऐसी थकावट आही जाती है,
हर कदम पर थकावट आकर जलाती है,
भटकना छोड़ो कमल पद, तनिक तो बैठो,
स्वय अपनी प्यास ही हमको जलाती है।
प्यास के, जल के, घटों के मायने समझो,
तपन पनघट के हृदय की समझ भी पाओ।

मुझे लगता जिन्दगी से प्यार तुमको है,
और थक मिटना नहीं स्वीकार तुमको है,
प्राप्त जो कुछ है, वही समझो मधुरतम है,
सत्य यह किस हेतु अस्वीकार तुमको हैं।
जिन्दगी अपने परों से उड़ी जाती है,
अधर चिन्हों से इसे कुछ दाग भी पाओ।

जिन्दगी करती वरण हम वही होते हैं,
हम न करते कर न पाते महज होते है,
इसलिये गम क्यों, शिकायत क्यों, चपलता क्यों,
गति चलाती, स्वयं चलता समझकर हम दु:खी होते है।
तनिक तो बैठो, जरा निस्संग हो देखो,
यह सुरभि के क्षण तनिक तुम बाँध भी पाओ,
थक गये होगे तनिक तो बैठ भी जाओ।

मुझको तो

मुझको तो अपनी ही तपती दोपहरी स्वीकार है,
किंतु छल भरी छायाओं के साये से इन्कार है।

सपने कभी नहीं कर पाये,
पूरी मन की आस को;
दरियादिली कभी सागर की,
बुझा न पाई प्यास को।

मुझे नहीं स्वामित्व चाहिये सागर की जल राशि का,
मुझको तो अपने ही घट के गंगाजल से प्यार है।

बहुत कामना का मुख चूमा,
चाह न जीवन बन सकी,
हिया फाड घन रोया दामिनि,
किस घन की कब बन सकी;

मुझे न चंचल चपलाओं के तक्षक चुंबन चाहिये,
किसी नयन में लाली बन कर छा जाना स्वीकार है;

अच्छा हुआ तपी दोपहरी,
मुझको चलना आ गया;
दुःख पाहुना शत्रु मित्र का,
भेद मुझे समझा गया;

हंस हंस रंग बदलने वाले फूलों को ले क्या करूं,
सदा एक सा रहने वाला मुझको प्यारा खार है।

महानगर और वसंत

आह ! कचनार खिले तुम आज !
दूर कहीं कांतार वनों में,
उतर अँधेरी उपत्यका में,
मदन सखा चुपके चुपके से,
खिला रहा होगा पलाश को,
पीले पीले अमलतास को,
और बैंगनी फूलों से लद
झूमा होगा आक,
आह ! कचनार खिले तुम आज !

किंतु यहां इस महानगर में,
हर चौराहे पर दिल धड़ धड़,
चलती उल्काओं की फड़ फड़,
सुबह शाम तक केवल भड़ भड़,
तनिक नहीं विश्राम, फिर भी अतृप्त काम;
नाच रहा नर,
स्वयं अपरिचित अपने ही से ।

ऐसे में दिख गये अचानक,

ओ ! नीले कचनार ।
विटामिन पोषित तंतु जाल को लगा,
दूर कहीं !
विजन वन आवृत मेरे घर के आंगन में भी,
आगया होगा कहीं वसंत ?
आह !
कचनार खिले तुम आज ।

वह भी क्या कवि था ?

अब तक जो उपेक्षित सत्य था,
हमने उसे प्रकाश दिया,
नये कृती हम,
हमनें नये सृजन का बीड़ा उठाया,
नये मानदण्डों का शिरस्त्राण पहिन करके,
किसी महारथी के कपिध्वज के नीचे,
अपने सरकंडे पर परचम लहराया,
कितने आकांक्षा भरे नवयुवक हृदयों में,
श्रेष्ठ कृती के अहं को आरोपा,
उनसे मानव की पीड़ा को पहिचनवाया,
नये सन्दर्भ दिये,
बंजर में भी काव्यतरु रोप दिये,
और लिलिपुटियों की चतुरंगिणी इकट्ठी कर,
नयी अनुभूति, नयी सूझ, नये शब्दों के नारे दिये,
नकली संघर्ष किया, करवाया,
और अपनी सांचे ढली रचनाओं को,
विवादों से संपुट करा,
महारथियों की गवाही दिला, छपवाया ।

जिसने हाँ में हाँ मिलाने से किया इन्कार,
उस ही के खिलाफ किया भारी प्रचार,

कहकर प्रतिक्रियावादी उसे.
टांग ही मरोड़ दी।

हम तो यह हैं मानते,
कि शाश्वत सत्य यह है कि शाश्वत कुछ नहीं,
इसलिए जो हम कहते है वही है सत्य,
हम ही हैं नये सत्य के उद्‌गाता,
क्यों न हमीं जग में पुजें,
और अपने सरकंडे का परचम ले,
टिड्डों के रथ पर,
बैठ क्यों न दिग्विजय करें ?

इसीलिए हमने अपनी कृति के मूल्यांकन हेतु,
लम्बे वक्तव्य दिये, दिलवाये
अपने को महाकृतिकार घोषित किया,
करवाया,
सामाजिक स्वीकृति मानव की भूख है.
केवल मन तुष्टि के लिए लिखता,
वह मूर्ख है !
वह भी क्या कवि था ?
जिसने लिखा,
कवि न होऊं नहिं चतुर कहाऊं ।

उपलब्धि

कुछ भी नही हुआ !
कुछ भी तो नहीं हुआ !!
केवल कुछ मुर्गों ने कलगी टेढ़ी कर बाँग दी,
मुर्गियों ने सिर उठाकर देखा,
और फिर घूरे कुरेदने लगीं।

कुछ खिसिआए बूढ़े करने निकले प्रभात फैरी,
उठ जाग मुसाफिर भोर भई,
कह कर घुस गये अपने अपने दरवों में,
सोने वाले सोते रहे,
जागने वाले रात की लूट को सहजने में रहे मस्त,
सारी सुबह,
निशाचरों से हो गई है त्रस्त;
सभी ओर लग रहा है फेरी वालों का जमघट,
जो जितने अधिक घरों में दूध बांट दे,
वही राजा हो जाता है,

लोग,
अफीमचियो की भांति ऊंघ ऊंघ कर
जागते तो हैं !
पर चूहे चूहों के लिए,
मुर्गे मुर्गों के लिए,

ग्रौर गधे गधों के लिए सोचते हैं !
प्रत्येक बड़ा घराना कुत्ते पालता है,
कुत्ते ! एक दूसरे पर गुर्राते हैं,
पर काटते नहीं;
वे बोटियों के बंटवारे पर,
कर लेते हैं समझौता,

सिनेमाई पोस्टरों की भांति बदल रहे हैं हमारी सहानुभूति
के ग्रर्थ हम होते जा रहे हैं क्रमशः
हृदयहीन,

प्रत्येक मुर्गा ग्रपनी कलंगी हिलाहिला,
ठसक दिखाने में
करता है ग्रधिक विश्वास,
देश ग्रौर समाज का खयाल
उच्छिष्ट सा फेंक दिया गया है घूरों पर,
ताकि उनमें पड़ने वाले कीड़े,
कुछ मुर्गियां बीन लें,
ग्रौर मुर्गे शान हांकने लगें कलंगियां टेढ़ी कर,
हां ! यही, बस यही,
रह गया है ग्राज,
उपलब्धियों का ग्रर्थ ।

कैसा है यह साहस तुम्हारा

इतना सब कुछ कह सुनने के बाद,
यदि कुछ बचा हो शेष,
तो वह भी कह दो,

पर कैसा है यह साहस तुम्हारा,
बकरी सा,
जो पहाड़ी की चोटी पर चढ़ सकता है,
तिनकों के लिये,
पर खूंटे से बंधा मिमियाता है,
टुकड़ों के लिये
ताकि रह सके सम्भ्रान्तों के बाड़े में,
बंधा ही सही,
अपनी जाति, अपने वर्ग, अपने समूह की युयुत्सा से दूर,
सम्भ्रान्त, नागर, मृदुभाषी।

तुम्हारा यह उच्छ्वास,
पैदा करता नहीं है हवा,
जो मायना रखती है,
बाग के, वसंत के सन्दर्भ में,
नहीं पैदा करता है वह बात,
जो दर्पण बन जाती है,

श्रौर गधे गधों के लिए सोचते हैं !
प्रत्येक बड़ा घराना कुत्ते पालता है,
कुत्ते ! एक दूसरे पर गुर्राते हैं,
पर काटते नहीं;
वे वोटियों के वंटवारे पर,
कर लेते हैं समझौता,

सिनेमाई पोस्टरों की भांति वदल रहे हैं हमारी सहानुभूति
के अर्थ हम होते जा रहे हैं क्रमश.
हृदयहीन,

प्रत्येक मुर्गा अपनी कलंगी हिलाहिला,
ठसक दिखाने में
करता है अधिक विश्वास,
देश और समाज का खयाल
उच्छिष्ट सा फेंक दिया गया है घूरों पर,
ताकि उनमें पड़ने वाले कीड़े,
कुछ मुर्गियां वीन लें,
और मुर्गे शान हांकने लगें कलंगियां टेढ़ी कर,
हाँ ! यही, वस यही,
रह गया है आज,
उपलब्धियों का अर्थ ।

कैसा है यह साहस तुम्हारा

इतना सब कुछ कह सुनने के बाद,
यदि कुछ बचा हो शेष,
तो वह भी कह दो,

पर कैसा है यह साहस तुम्हारा,
बकरी सा,
जो पहाड़ी की चोटी पर चढ़ सकता है,
तिनकों के लिये,
पर खूंटे से बंधा मिमियाता है,
टुकड़ों के लिये
ताकि रह सके सम्भ्रान्तों के बाड़े में,
बंधा ही सही,
अपनी जाति, अपने वर्ग, अपने समूह की युयुत्सा से दूर,
सम्भ्रान्त, नागर, मृदुभाषी।

तुम्हारा यह उच्छवास,
पैदा करता नहीं है हवा,
जो मायना रखती है,
बाग के, वसंत के सन्दर्भ में,
नहीं पैदा करता है वह बात,
जो दर्पण बन जाती है.

ग्रौर तुम्हें ग्रपने ग्रसली रूप को देखने को,
करती है विवश ।

ग्रत:
झंझाग्रों की, क्रान्तियों की बातें,
क्यों व्यर्थ ही बातें करते हो मित्र,
वसंत को ग्राना है,
वह ग्रायेगा,
सार्थक संघर्ष से,
बकरों ग्रौर मेमनों के मिमियाने से नहीं ?
जिनका कल्पनालोक,
टहनियों ग्रौर पत्तों से इतर कुछ ग्रौर नहीं होता ।

तेरी कौन सुनेगा

इस आत्मरत अंधियारे में व्यर्थ मत बोल,
ओ वनपाखी,
तेरी कौन सुनेगा।

सुन,
यह तो निशाचर उलूकों की है रात,
जिनकी डहकाती कड़ कड़ कड़
गूंज रही है घाटी के विस्तारों में,

सुन,
यह तो है कीचरों का उत्सव,
उनकी हृदय बेधक किरें किरें,
कंपा रही है व्याप्ति की सीमाओं को।

देख,
बज रही हैं तम के द्वार पर बधाइयां,
ऐसे में तू अकेला,
इस पहाड़ी की चोटी पर बैठ,
न जाने कब से कर रहा है, जग जग जग,
बुला रहा है सूरज को,

सूरज आये बिखरा दे सोना,
नीड़ों पर, घरों पर, दीवारों पर,

पर वे सब जो दुश्मन हैं अंधियारे के,
वे सब तो पड़े हैं सोये हुए,
कौन करेगा सूरज का स्तवन ?
क्या तुम्हें मालूम नहीं,
सुबह किसी के लाने से नहीं, अपने आप आती है,
और यह भी जरूरी नहीं,
सूरज आवे तो सब उसके प्रकाश में नहायें।

संशयग्रस्त

घोर उमस है,
तन को काट जा रही है चींटियाँ सी,
चिर दाहक तृषा ने उमेठ डाला है गले को,
ठंडी हवा ने कसम खाली है न चलने की.
फूंके दे रही है,
जलती हुई आंखों से घूरती हुई नियोन बत्तियां,
मेरी आंखों को,
और लिपटे से जा रहे है,
वह्नि फुफकारते हिंसक अहि मेरी गरदन में,
ये कैसा हृदय हीन प्रकाश है,
जो व्यक्ति को अंतर आलोकित नहीं करता,
महज छलता है, जलाता है;
जो व्यक्ति को अपना दीप बनने की प्रेरणा नहीं देता,
ठंडे लोहे सा दिल व गुंजल की तारों का दिमाग लेकर
केवल चमत्कृत करने को उकसाता है ।

मेरे वक्ष पर से मार्च करती हुई,
भारी बूटों को ठक ठक बजाती हुई,
सेनाएं गुजर रही है,
कहीं भी तो कोई मधुर स्वर नहीं,
कही भी तो ताप से जलते मस्तक पर,
शीतल कर स्पर्श नहीं ।

चारों ओर केवल चीखें हैं, पुकारें हैं,
रक्त पीने के आमन्त्रण हैं,
जय जयकारें उनकी जो धक्का देकर बढ़ रहे हैं,
चीत्कारें उनकी जो पैरों तले कुचले जा रहे हैं।

ऐसा लगता है,
मैं झड़बेरी के जंगल में फंस गया हूं,
जिनमें लाल लाल चमकीले फल तो हैं,
पर जिनमें रस नहीं, केवल गुठली सा पाषाणी दिल है।
मैं उनके रूप आकर्षण से बंध,
उन्हें तोड़ने के लिए हाथ जो बढ़ाता हूं,
तो क्षत विक्षत हो जाते हैं कर, और तन
पर ऐसा कोई नहीं,
जो गीले अनुलेपन से क्षतों को सहला भर भी दे।

ऐसा लगता है,
इस रंग भरे वृन्दावन को किसी तृणावर्त ने घेर लिया है,
आग चारों ओर घिरती आ रही है,
सब कुछ धूमिल होता जा रहा है,
कुछ भी साफ़ नहीं सूझता,
कुछ नहीं कुछ भी नहीं।

स्वप्न

हिमाद्रि सा पुरातन,
सहस्रशीर्ष सहस्र बाहु मैं,
स्वप्न से व्यथित हूं,
एक विकट वन मानुस दबाए दे रहा है मेरा गला,
पसीने से तर बतर हो उठा हूं मैं सहसा,
और मेरे श्वास अवरुद्ध है।

पास में जल रहा है कालेज,
मुझे लगता है,
बंकिम के आनन्द मठ में लग गई है आग,
अब कुछ नहीं बचेगा मूल्यवान,

मेरे वक्ष से गुजर रहा है जुलूस,
जिन्दाबाद करता हुआ,
ठक ठक,
सहसा गोली चलती है,
एक भगतसिंह की लाश चिथड़े चिथडे कर
उडा दी गई है हवा में,
जिसे बीच आकाश में ही,
गिद्धों और कौवों ने नोच डाला है,
कोई बाप,

द्विजेन्द्र लाल का शाहजहां,
सुबक सुबक उठता है।

चारों ओर एक ही शब्द है,
अकाल अकाल,
मर रहा है होरी,
कोई तो बचाओ इसे,
पर धनिया के पास,
दो पैसे भी नहीं,
जो गोदान भी करा दे,
मेरी कोई नहीं सुनता,
क्योंकि राजघाट में मेरी समाधि पर,
फूल चढ़ा देने के बाद,
यह जरूरी नहीं रह गया है,
कि कोई मेरी बात भी सुने,
केवल मैं अनशन किये बैठा हूं,
स्वनिर्मित ओक्टोपसी तन्त्र,
मुझे जकड़ बैठा है,
आह ! कितना विवश हूं मैं स्वतन्त्र होकर भी।

कभी कभी मैं सोचता हूं,
क्या वह स्वप्न व्यर्थ था,
जिसके लिए मैं कल जिया,
आज मर रहा हूं ?

बुद्धिजीवी की व्यथा

मेला लुटने के बाद,
जो कुछ बचता है,
तुम्हारा हो !
हो !!
पर मेरा नहीं है।

जब तुम भरे मेले को लूटते हो,
विधि विधान, समाज, संस्कृति, शासन
या महज अफसरशाही का आश्रय ले,
किसी का गला, किसी की जेब,
या किसी का गल्ला काटते हो,
तो मैं कुछ नहीं कहता तुमसे।

तुम चलते समय,
कुछ चाशनी सने दोने,
कुछ उच्छिष्ट पत्ते,
कुछ खोखे या पन्नी लगे डब्बे
मेरे लिये छोड़ जाते हो
तो भी मैं मौन बना रहता हूं।

और तुम उत्कोच सोपान लगा,
चढ़ते राज सिंहासन पर,

बनते ज्ञान, मान और ईमान के आगार,
शासक और शास्त्रज्ञ,
तो भी मैं,
ओंठ सिये रहता हूं ।

तुम पुलकते अपनी सिद्धहस्तता पर
मन ही मन रोता मैं अपनी विवशता पर,
पर मेरी यह विवशता
तुम्हारे द्वारा दिये गये,
उत्कोच की स्वीकृति नहीं
महज असमर्थता है,
और है
टकराव की पूर्व स्थिति ।

हत्या

कल जब,
अपने शीश पर खिलती हुई चांदनी को,
कर रहा था अनुभव मैं प्रसन्न हो,

पथगामी दो रतनारे नयन मौन
आ फंसे मेरे उर में सुख विह्वल,
और तैर कर तिलमिलाने लगे मुझको,
करने लगे काम दग्ध।

सहसा मैं डरा,
मुझे लगा,
फुसफुसाहटों के कंटकाकीर्ण हार,
चुभने लगे हैं मेरे गले में,
भरी सभा में कोई फेंक रहा है जूता
मेरे मुख पर,
जबकि ध्वनि विस्तारकों पर
बांधे जा रहे हैं मेरी प्रशस्तियों के पुल,
झपट रहा है प्रवाद वृक
मेरी अजासुता प्रतिष्ठा पर,
कर डालेगा उसे खंड खंड;
और मेरा वह मित्र जो मुझसे जलता है,
थूक देगा पीक मेरे कोट पर।

सिहर कर.
मैंने अपने शीश पर शोभायमान
श्वेत केश राशि को टटोला,
अपनी प्रतिष्ठा की इत्र भरी शीशी को,
काग खोल सूंघा,
देख उन नयन मीनों को ममता भरी दृष्टि से,
चुपके से सरका दी,
एक शिला अपने हृदय पर,
बेचारे मीन मर गये तड़प तड़प कर
मैं क्या करता !
मैं था विवश !!

बिगन्न बेलिया

घर घर फूला बिगन बेलिया
कटा सजा सा मनहर सुन्दर प्रसाधन कर,
लाल गुलाबी और कत्थई,
कागज के से गंधहीन फूलों से सजकर,
जैसे कोई क्षयी किशोरी दार खड़ी,
बन ठन शृंगार कर,
झूम रहा है द्वार द्वार पर।

आज वक्त है बिगन बेल का,
कटे सजे से मनहर सुन्दर निर्गन्धों का,
फ्लाक्स, डैलिया या पैंजी का,
लदा वक्त परिमल सुगन्ध का,
चम्पा, बेला या गुलाब का,
उन्हे चाहिये सतत साधना, प्रयत्न अनवरत,
कौन करे इतना श्रम।
आज साधना कब आवश्यक!
आवश्यक उसका भ्रम,
आज मांग है कृत्रिमता की
और 'मेड अप' आकर्षण की

नहीं रूप की किन्तु
रूप के चमत्कार की,
इम्प्रेशन की या प्रभाव की;

इसीलिए तो,
कागज के से गंधहीन फूलों से सजकर,
घर घर फूला
बिगन बेलिया।

प्रसाधिका

महकते गुलाब से कहा,
घास काटने की तीक्ष्ण दंष्ट्रा मशीन ने,
अरे ओ गुलाब !
बना फिरता है गुले आफ़ताब !
व्यर्थ क्यों अकड़ता है,
साल में कुछ दिन को खिलता है,
इस पर भी रूप के सृजन का दम भरता है।

मुझको देख !
रोज मैं काटती हूं,
लान की सुषमा को कविता सी सवारती हूं;
बंधी हुई सीमाओं में नित्य श्री बांटती हूं।

प्रत्युत्तर में गुलाब ने कहा,
अरी ओ प्रसाधिका,
तू क्या जानेगी सुरभि का बांटना,
रूप की गहराइयों में चेतन हो झांकना,
तूने तो सीखा है,
अरी ओ हतभागी,
काटना, सिर्फ काटना।

दुर्भविष्य

झागों में डूब रहे ऊंचे मस्तूल
ऐसी कुछ हवा चली.
डगमगा गई तरी,
मुक्ता अन्वेषण को निकले जो सागर पर,
कौडियों पर फिसल गये,
सभी लक्ष्य भूल;
झागों में डूब रहे ऊंचे मस्तूल ।

विद्रुम के तट पर मरी मत्स्य गंध फैल रही;
हाय हाय स्वर्ण तरी,
कागज की नाव बनो डूब रही;
सीख गये युधिष्ठिर,
शकुनि की चालों को.
होरी की आशाए हो गई धूल;
झागों में डूब रहे ऊंचे मस्तूल ।

नया समाज

भला आदमी
जब बोर होता है,
तब या तो रोता है,
या सोता है,
मगर खुराफाती,
होता है जब बोर,
तब चंचल बंदर सा करने लगता शोर,
उत्पात,

लगता है, सच थे डार्विन महाराज,
यह नई चकाचौंध वाली संस्कृति,
नया समाज,
ऐसे ही खुराफातियों की है,
औलाद।

शेष प्रश्न

रोज मेरे आंगन की पीपल पर,
सोता है एक मोर,
कोई भय, आशंका पाते ही तनिक सी भी,
करने लगता है शोर
और बड़े जोर,
आंगन में उतर करके,
बाहर पड़ी हुई उच्छिष्ट खा जाता सब,
फूले हुए गेंदे की कलियां तक,
कर जाता चट।

रोज मुझ से पूछता है, बिल्लू
क्यों पापा ?
ये जो ऊपर से दिखते हैं महान,
भव्य और आकर्षक
इतने कायर और भीरु हुआ करते क्यों ?
ये जो बाहर से दिखते हैं
परम पवित्र, परम शुचि,
पराये दूषण ही भोज्य ये बनाते क्यों ?
और असहायों के सपने चुग जाते क्यों ?

अकाल मृत्यु

मेरा एक क्रांतिकारी मित्र मर गया।
कहां सायं उसने राजभवन में मंत्रिपद की शपथ ली,
आज,
विरोधी को फंसाने के लिए
थानेदार को टेलीफोन किया,
और सचिवालय पहुँचते ही,
कुख्यात, भ्रष्ट
किन्तु स्वजातीय अधिकारी को,
अपना निजी सचिव नियुक्त किया,
मित्र मंत्री बन गया,
क्रांतिकारी मर गया,
मेरा एक क्रांतिकारी मित्र मर गया।

सुख-दुःख

सुख के दिन,
नखरे बाज दामाद से,
आते है थोड़े क्षण को,
हो हल्ला कर,
चट खिसक जाते हैं अपने घर को।

दुख के दिन,
जाने किस अपरिचित की चिट्ठी ला,
जम जाते है बैठक में,
जाने का लेते नहीं नाम,
नित्य ही मुख से निकलता है,
हे राम ! हे राम !!

अल्हड़ वसंत

ये तूने क्या किया,
ओ अल्हड़ वसंत
कैसी रंगभरी पिचकारी चलादी,
पलाशों में, फूलों में,
कर दिया सारा निसर्ग ही बहुरंगी,
कि मैं देखता ही रह गया निस्तब्ध,
पर ये क्या हुआ !
तू तो अल्हड़ का अल्हड़ ही रहा,
पर,
मैं बूढ़ा हो गया ।

उपालम्भ

सूर्य ने पूछा,
कहां हो तुम ?
किन्तु छाया ने नहीं उत्तर दिया।
सूर्य ने सोया समझ, दुहका,
गर्विता, सिकुड़, सिमटी न बोली मानिनी।

सूर्य ने अन्यमनस्क हो मुंह फेरा,
कुतुहल जगा,
पलक खोली, बढाए हाथ,
पर विरागी सूर्य बढ़ता ही गया।

रह गई म्लान मना, दमयन्ती,
यशोधरा, विष्णुप्रिया, रत्ना,
रह गया उपालम्भ,
सदा से देती रही
जो इड़ा मनु को।

सयाना

जंगल का सियार शहर में आया।
सोचता था,
बहुत मैं सयाना हूं
बहुत गट्स वाला हूं
डैश जो लगाऊंगा, बाग में घुस जाऊंगा,
खूब फल खाऊंगा
और भूरी इशरत पसंद शहरी बिल्लियों को,
खूब दौड़ाऊंगा;
किन्तु,
शहर के गोश्तखोर, जागरूक,
सधे सधाए कुत्तों ने फाड़ खाया;
जंगल का सियार शहर में आया।

नया वर्ष दिन

फिर एक तरां नया वर्ष शुरू हुआ,
भेड़िये ने गीदड़ों से कहा,
छत पर जाओ,
बिगुल बजाओ, नारे लगाओ,
टेर कर निष्कपट खरगोशों को बुलाओ,
उन्हें उछलना, कूदना,
और आपस में पूंछ खींचना सिखाओ,
भोज्यों को,
भोजन बनने की तमीज़ सिखाओ,
और फिर वही सांचे में ढला समाज चलाओ,
पुराने ढोले वाजों का,
नया जय घोष हुआ।
नया वर्ष शुरू हुआ।

इतनी सी बात

बात बस इतनी सी है,
वे बहुत काबिल हैं,
या बहुत काबिल हम,
कैसे वे मानलें,
और कैसे हम,
इसीलिए
बिना बात,
बात लगती सी है
बात बस इतनी सी है।

हम वैसे ही रहे

हम वैसे ही रहे,
कुछ अनुभूति हुई थी मन में,
कह न सके, सह गये,
स्वप्न बस स्वप्न रहे,
दु.ख सुख आतप वर्षा के दिन,
तपे,
घुमड़ कर बीत गये,
हम वैसे ही रहे,
अगति के बंधन में ।

पुष्करिणी तल पर तिरते
तिनके से,
कुछ इधर बहे, कुछ उधर बहे,
कुछ रोए और हंसे,
पर रहे वही बस वही,
जनमे और गल गये,
उर्मियों को गिनते
हम वैसे ही रहे ।

ओ दर्प स्फीत-जयी

तुमने,
एक मूर्ति थी सुन्दर मधुरिमा की
घूरे पर फेंक दी,
उसकी मुरली को,
पैरों से कुचल दिया;
तुमने,
एक पोथी थी
पुरानी संस्कृति की,
चिंदी चिंदी कर,
हवा में उड़ादी।

तुमने,
एक शीशी थी
शुद्ध गंगाजल की,
नाली में ढोल दी।
तुमने,
एक आइना था निर्मल बिल्लौर का,
पत्थर पर फोड़ दिया,
कह दिया,
यह सब पुरातन है, व्यर्थ है

अभिनवाकांक्षी हम,
नया गढ़ेंगे, करेंगे नवीन की सर्जना।

पर,
क्या हे दर्प स्फीत, जयी ?
तुम्हारे मन कानन में,
मुरली अब बजती है ?
क्या तुम्हारी ज्ञानाभा
किरणें बिखराती है ?
क्या तेजाबी अनुभूति से,
मन का मैल कटता है ?
क्या मन मुकुर में मुख
निर्मल सा दिखता है ?

अधजली सिगरेट

ये अधजली सिगरेट,
राह में पड़ी हुई जो,
परित्यक्ता सी,
भू लुण्ठित, पददलित असित सी,
किसी विलासी के गंदे अधरों के,
चुम्बन का अपमान सजाए निज अधरों पर,
अपना सब सर्वस्व मिटाकर,
अपना कोमल हृदय जलाकर,
पैरों के तल पड़ी हुई जो,
ठोकर से मिट मिट जाने को।

स्वतः नहीं चुम्बन देती है,
पर पैसे की माया ऐसी,
पैसे वाला कोई भी हो,
निर्धन, कोढ़ी या अपंग हो,
इसे मोल ले सकता है,
इसका ये ही काम,
कि अपना उर सुलगाकर,
दूसरे की ज्वाला की ताप मिटाना।

क्योंकि पैसे के इस युग में
जब दुनिया के सारे धर्म कर्म आयोजन,

पैसे के ही अंकों में आंके जाते,
नारी का अभिमान और अबला की अस्मत,
निश्च्छल का ईमान,
और बेकस की इज्जत,
सब पैसे के इस प्रवाह में वह जाते हैं,
पैसे से,
मस्तिष्क खरीदे जाते हैं पैसे के युग में
पैसे से मत मिलते है,
बांटे जाते है
पैसे के दम पर ही सोने की चमड़ी के गदहे,
सत्ता के सिंहासन पर आ डट जाते है,
चीख चीख कर यह कहते है,
और रेंक कर यह कहते है,
बुद्धि के इस ग्रीष्म दाघ से
पीड़ित युग में,
नहीं हमारे सम कोई बुद्धि बाला है,
हम तो है बैसाख पुत्र,
जो चाट चुके हैं,
ज्ञान मान के मैदानों की सब बसुधा को।

पैसे का युग;
जो कि लाभ की भित्ति पर ही,
खड़ा हुआ है
जो कि तेल में मौबिल आइल,
घी में चर्बी मिलवाता है,
छोटे छोटे बच्चों को अपंग बनाकर,
भीख मांगने का पेशा जो सिखवाता है,
एटम बम बनवाता है, औ लड़वाता है,
औ तस्कर व्यापार लाभवश करवाता है।

मौत कुत्ते की

आज की रात ठंडी है बहुत,
ओढ करके कोहरे का कफन,
मौत की वैतालिका घिर छा गई अम्बर धरा पर,
और डाले दे रही है हाथ ठंडे.
कम्बलों, कोटों, रजाई, मफलरों मे,
कॉपता जग,
त्रस्त हो कर,
रो रहे पिल्ले, ठिठुरते,
मर रहे है श्वान,
कॉपते हैं पेड़ के नीचे पड़े बच्चे भिखारी के
काटते है रात,
पथ के चीथड़ों को और दौनों को जलाकर
दूर हाहाकार करती रो रही बेबस भिखारिन,
मर गया हैं लाल उसका
विकट सर्दी से जकड़कर
कौन पूछे
मर गया इंसान बेबस मौत कुत्ते की।

प्रश्न यह उठता अचानक,
आज मानव और कुत्ते में रहा क्या फर्क
देश तो आजाद हैं;

क्यों नहीं हर आदमी को सहज सुविधा प्राप्त,
बन रही हैं योजनाएं गा रहे कवि,
हो रहा निर्माण ये समझा रहे कवि,
किन्तु फिर भी दु.ख है, दारिद्रय है, संताप है,
और जीवन प्रश्नवाचक चिन्ह बनकर,
आ खड़ा है सामने सबके अचानक।

इसलिए न,
बदल सकता नहीं पैसा स्वयं सबकी किस्मतों को
वह उगा सकता न रोटी,
और न उसको बांट सकता है स्वयं ही,
और शासन,
बना सकता बांध,
लेकिन जिन्दगी की मांग में
सिन्दूर वह भी भर न सकता।

जिन्दगी का एक गहरा राज है,
जो चाहता है दर्द, करुणा, प्रेम,
और मिल कर बांट खाने की भली आदत,
काम करने और पैसा कमाने की भली नीयत
औ लगन निर्माण की
जो पहाड़ों को ढहाकर
उर्वरा मिट्टी बनाती है,
वह जवानी जो नदी को मोड लाती है,
जो कहानी त्याग की बन मुस्कुराती है,
जिन्दगी तो वह तपन है,
जो कि थप्पड़ मौत के मुंह पर लगाती है।

इसलिए हे मित्र !
जब तक है नहीं ईमानदारी और एका,

और नहीं हैं न्याय की चिन्ता हमें खुद
और पैसा है बना भगवान सबका,
उस समय तक,
हम भले कुछ भी करें,
किन्तु जूठी पत्तलों को चाट,
धक्के खा, पैसे मांग कर,
और सर्दी से ठिठुर कर
आदमी यों ही सदा मरता रहेगा,
मौत कुत्ते की।

कोयल का आर्त्तनाद

तूने मुझे गाना क्यों सिखाया मेरी मां !
निभृत निकुन्जों में,
बौर लदी अमराइयों में,
मन्मथ क्रीड़ा में मस्त तरुण तरुणियों में,
दक्षिण समीर के पैंगों पर उमग उमग,
तूने मुझे रस बरसाना क्यों सिखाया मेरी मां !
तूने मुझे गाना क्यों सिखाया मेरी मां !

सुरभित कछारों में,
मादक बहारों में,
तटिनी स्पर्श हित,
आकुल झुके तरुओं में,
बैठ मैं गाती हूं,
मगन हुलसाती हूं,
गूंज तब उठती हैं, घाटियां, अमराइयां,
वन और कानन सब,
स्तब्ध हो उठते हैं धरती औ अम्बर तक,
सब ओर गूंजती तब,
मेरी ही कुहु कुहु, कुहु कुहु, कुहु कुहु,

ग्रौर मैं सोचती हूं,
काली कुरूपा सही,
हूं तो मैं गायक पर,
दिये है विधाता ने जिसको मधुरतम स्वर,
ग्रौर ऐसा लगता है,
कितनी ग्रच्छी हो मां,
तुमने सिखाए मुझे, गीत मधुरतम ये
किन्तु तभी मां सुन
काले कलूटे ये,
मुंह जले कौवे ये,
चिढ़ करके, जल करके,
काव कांव करते है
मुझको चिढ़ाते हैं,
कृष्ण मुख, कृष्ण हृदय,
मुझ पर झपट पड़ते हैं,
ग्राहत कर देते मुझे,
कितने पर इन्होंने नोंच डाले है मां,
कितने क्षत पड़ते हैं देख इस देह पर।

ग्रौर मैं इनसे विपन्न
भागी भागी फिरती हूं;
दूर दूर विटपों पर
इनसे डर घबरा कर,
उड़ी उड़ी फिरती हूं,
देखकर सूना घर,
क्रूर तब ये कायर,
मेरे ग्रंडे चुरा ले जाते है,
ग्रौर मैं ग्रासन्न प्रसवा,

भग्न हृदय, डाल डाल,
रोती हूं कलपती हूं,
रो रो कर पूछती हूं,
डालों से, पत्तों से,
कुसुमों से, भ्रमरों से,
कहां मिलेंगे मुझे बतला दो मेरे अण्ड,
मेरी आत्मा के तत्व
मेरे लाल,
माना मैं काली हूं, घिनौनी हूं,
पर हूं तो तुम्हारी कोयल
तनिक तो बतादो मुझे; मेरे समवर्णी मित्रो,

पर कोई नहीं बताता है,
और मैं भग्न हृदया,
बिना अन्न, बिना जल,
मौन पड़ी रहती हूं,
अपने दुःख में विलीन,
और फिर शाखों में बौर जब आते हैं,
भभक उठती है याद बच्चों की हृदय में जब,
तब मैं कलपती हूं,
आर्तनाद करती हूं,
भर भर जाती है
घाटियां, अमराइयां
वन कान्तार सब,
मेरी इस मर्मान्तक पीड़ा से, व्यथा से,
लोग कह उठते तब,
लो ! कोयल यह गाती है,
कितनी आवारा यह,
इसको चिन्ता नहो

अपने बच्चों तक की,
यह तो है मनचली,
जहां देखा आम्र बौर,
चट फिसल जाती है.
मचल गा उठती हैं,
अपने दिल के दाग किसको दिखाऊं मेरी मां
अपनी व्यथा किसको सुनाऊं मेरी मां,
तूने मुझे गाना क्यों सिखाया मेरी मां।



डॉ. त्रिभुवन चतुर्वेदी

जन्म . भाद्रपद शुक्ल गणेश चतुर्थी संवत् 1985, कोटा (राजस्थान)

शिक्षा : एम. ए. पी-एच. डी.

प्रकाशन : 1. क्षमा कीजिए, ब्रह्माण्ड का उपमान [ललित निबन्ध]

2. सुरभि के चरण [कविता संग्रह]

3. ममता की समाधि [खण्ड काव्य]

इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख ।